शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

माघ : २४८१ ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक दसवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

इतना समझ लेना चाहिये कि.....

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही है; और उसके सेवन से ही भवभ्रमण का अन्त आता है; इसके अतिरिक्त अन्य जो भी भेद या बाह्य साधनों को धर्म कहा हो, उसे व्यवहार से ही उपचारमात्र धर्म संज्ञा जानना चाहिये। जो अंतर के वीतरागभावरूप धर्म को नहीं जानता, और उपचाररूप बाह्य साधनों को ही धर्म मानकर अंगीकार करता है, वह जीव यथार्थ धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता किंतु संसार में भटकता है। जो इस रहस्य को नहीं जानता, उसे धर्म की सच्ची श्रद्धा नहीं है और इसीलिये वह जीव, धर्म को प्राप्त नहीं होता।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११८]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

सम्यक् पुरुषार्थ

''सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अथवा जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है—ऐसा मानें तो फिर जीव का कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहता''—ऐसा अज्ञानी लोग कहते हैं; किन्तु—

वास्तव में तो क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञ का निर्णय हुए बिना सम्यक् पुरुषार्थ होता ही नहीं। जिसे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं है, और फेरफार करने की बुद्धि है, उसका पुरुषार्थ, मिथ्यात्व और राग-द्वेष में ही रुका है; उसके ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता; और जिसे क्रमबद्धपर्याय तथा सर्वज्ञ का निर्णय है, उसका पुरुषार्थ अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो गया है—वही मोक्ष का सम्यक् पुरुषार्थ है।

(—चर्चा से)

आत्मधर्म

माघ : २४८१ वर्ष दसवाँ अंक दसवाँ

दिव्यध्वनि का ढंढेरा

[शांतिनाथ भगवान का शांति-उपदेश]

[यह प्रवचन शांतिनाथ भगवान के केवलज्ञान-कल्याणक प्रसंग का है। इसका प्रथम भाग 'आत्मधर्म' अंक ११० में छप चुका है। उससे आगे यहाँ दिया जा रहा है।]

[ज्येष्ठ शुकला ४, वीर सं. २४७५]

दिव्यध्वनि में चौदह ब्रह्माण्ड के जीवों को भगवान का आमंत्रण है कि "अरे जीवो! तुम में परमात्मा होने का सामर्थ्य भरा है... तुम मुक्ति के योग्य हो... यह मोक्ष का मण्डप लगा है; तुम भी अपनी परमात्मदशा प्राप्त करने के लिये मोक्ष के मण्डप में आओ! अंतर अवलोकन द्वारा अपने आत्मा को पहिचानकर उसकी महिमा करो, तो अल्पकाल में सिद्धदशा प्रगट होगी।"

भगवान की दिव्यध्वनि तो अमोघवाणी है, वह कभी खाली नहीं जाती... उस वाणी को झेलकर धर्मवृद्धि करनेवाले जीव अवश्य होते ही हैं... वाणी कानों में पड़ते ही पात्र श्रोता को तो ऐसा प्रतीत! होता है कि अहो! मुझे ऐसी अपूर्व वाणी प्राप्त हुई है, इसलिये मैं अवश्य ही अपनी पात्रता से समझकर अल्पकाल में मुक्त हो जाऊँगा... इसप्रकार जो अंतरंग दृढ़तापूर्वक स्वीकार करके यथार्थ बात को समझ लें—उन्हीं श्रोताओं को यहाँ लिया है, ऐसे श्रोताओं को धन्य है... उनका अवश्य कल्याण हो जाता है।

शांतिनाथ भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् दिव्यध्वनि खिरी। भगवान को स्वयं तो पूर्ण शांति थी और दूसरों को भी दिव्यध्वनि द्वारा शांति का उपदेश देते थे... हे जीवो! तुम्हें आत्महित करना हो, शांति की आवश्यकता हो, तो वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता को समझकर आत्मस्वभाव का आश्रय करो!

स्वतंत्रता का ढंढेरा

भगवान की दिव्यध्वनि में, वस्तु की त्रिकाली शक्ति और उसकी समय-समय की पर्यायों की स्वतंत्रता का ढँढ़ेरा पीटा है। त्रिकाली द्रव्य स्वतंत्र है और उसकी प्रतिसमय की अवस्था भी स्वतंत्र है। अज्ञानी जीव काललब्धि का नाम लेकर पराश्रय में अटक जाते हैं, परन्तु काल तो परवस्तु है; वास्तव में आत्मा के स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ की दशा ही आत्मा की स्वकाललब्धि है। त्रिकाली सत् और समय-समय का सत् स्वतंत्र है; समस्त पदार्थ और उनकी वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है। आत्मा, जड़कर्म के कारण परिभ्रमण नहीं करता और जड़कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते। यदि जीव की पर्याय का कर्ता कोई दूसरा कहा जाये तो जीव की स्वतंत्रता ही कहाँ रही? इस जीव का कर्ता दूसरा है—ऐसा कहें तो जीववस्तु ही स्वतंत्र सिद्ध नहीं होती; जिसका कर्ता हो, वह कृत्रिम वस्तु को करता है, त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं होता। और यदि त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं है तो उसके वर्तमान का भी कौन कर्ता होगा?—कोई नहीं। जिस प्रकार त्रिकाली वस्तु स्वयंसिद्ध सत् है; उसी प्रकार उस वस्तु का वर्तमानपना भी स्वयंसिद्ध सत् है। त्रिकाली वस्तु स्वतंत्र और उसका वर्तमानपना पर के कारण—ऐसा कभी नहीं हो सकता। त्रिकाली सत् की स्वतंत्रता में उसके प्रत्येक समय के सत् की स्वतंत्रता का भी समावेश हो जाता है; त्रिकाली सत् से वर्तमान सत् कहीं पृथक् नहीं है। यदि वस्तु के एक समय के भी सत् को पराधीन-अर्थात् पर के कारण-मानें तो त्रिकाली वस्तु की स्वतंत्रता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि एक समय की पर्याय पराधीन होगी, तो उसी प्रकार दूसरे-तीसरे समय की पर्यायें भी पराधीन ही होंगी;—ऐसा होने से त्रिकाल प्रवर्तमान द्रव्य ही पराधीन सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तुस्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। जगत के अज्ञानी जीव जिसप्रकार ईश्वर को जगतकर्ता मानते हैं, उसीप्रकार जैन सम्प्रदाय में रहकर भी यदि कोई ऐसा माने कि कर्म, जीव को परिभ्रमण कराते हैं, अथवा आत्मा, पर का कुछ करता है—तो वह भी अन्यमतियों की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। एक समय की अवस्था में विकार भी स्वतंत्ररूप से स्वयं करता है—ऐसा न जाने और माने कि कर्म ने विकार कराया है, तो वैसी मान्यतावाला जीव भी ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले जैसा ही है; उसे वस्तु के स्वतंत्र स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

और वास्तव में परमार्थ स्वभाव से एक समय के विकार का मैं कर्ता और वह मेरा कार्य—इस प्रकार निश्चय से जो विकार के साथ कर्ताकर्मपना माने, उसे भी भगवान, मिथ्यादृष्टि ही कहते हैं, क्योंकि वह विकार को ही आत्मा मानता है; विकार से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का उसे

भान नहीं है। 'आत्मा अपने स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है'—यह ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विकार कोई दूसरा कराता है। दूसरा पदार्थ मुझे विकार कराता है—ऐसा जो मानता है, वह तो अत्यन्त स्थूल भूल करता है; उसे तो व्यवहार की अर्थात् वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता की भी खबर नहीं है। अपने द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों से मैं स्वतंत्र हूँ, पर्याय में विकार होता है, वह भी मेरी पर्याय के अपराध से होता है; परन्तु मेरे द्रव्य-गुण-स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिये स्वभाव से मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ और विकार मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसा समझकर विकाररहित ज्ञानस्वभाव का अनुभव करे, वह जीव धर्मी है। यदि विकाररूप अंश को भी स्वतंत्र स्वीकार न करे तो त्रिकाली अंशी को स्वतंत्र स्वीकार करने का बल वह कहाँ से लायेगा? विकार पर कराता है—ऐसा माने अथवा तो विकार को ही अपना कर्तव्य मानकर अटके तो वह मिथ्यादृष्टि है। विकार के समय भी धर्मी की दृष्टि में ज्ञानस्वभाव की ही अधिकता रहती है, और अज्ञानी तो उस विकार के समय अकेले विकार को ही देखता है—विकार से भिन्न ज्ञान को वह नहीं देखता। जिसने अपना परमार्थ स्वभाव दृष्टि में लिया है, वह धर्मी जीव जानता है कि दयादि शुभपरिणाम भी विकार हैं; मैं उनका ज्ञाता हूँ परन्तु कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। त्रिकाली आत्मा को क्षणिक विकार का कर्ता माने, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है; इसलिये वह धर्मी नहीं है। तीन काल तीन लोक में एक तिनके को भी तोड़ने का सामर्थ्य किसी आत्मा में नहीं है; जड़ परमाणु की अवस्था में चैतन्य का अधिकार नहीं है। अज्ञानी जीव, पर का भला-बुरा कर देना मानता है, परन्तु अपने अज्ञानभाव और राग-द्वेष के अतिरिक्त पर में तो वह कुछ कर ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी-अपनी स्वतंत्र शक्ति होने पर भी, पर का कुछ करे—ऐसी शक्ति तो किसी द्रव्य में किंचित् ही नहीं है।

वस्तु स्थिति ही ऐसी है कि—

सकल वस्तु जगमें असहाई।
वस्तु वस्तु सों मिलै न कांइ॥
जीव वस्तु जाने जब जेती।
सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥

[—नाटक समयसार : सर्वविशुद्धद्वार]

वास्तव में जगत के सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई पदार्थ दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, और न कोई पदार्थ किसी पदार्थ में एकमेक होता है। ज्ञानस्वभावी जीव, जगत के पदार्थों को जानता है, परन्तु वह सर्व पदार्थों से भिन्न ही रहता है। ज्ञाता सबको जानता है, किंतु वह किसी की बदलता नहीं है। तीनकाल-तीनलोक में समस्त द्रव्य असहाई हैं; कोई किसी को सहायता करे -ऐसी शक्ति किसी द्रव्य में नहीं है, और न किसी द्रव्य में ऐसी पराधीनता है कि वह किसी की सहायता माँगे। जिसमें जो शक्ति न हो, वह कोई दूसरा नहीं दे सकता, और जिसमें जो शक्ति हो, वह दूसरे का आश्रय नहीं लेता—यह महान सिद्धांत है। वस्तु स्वभाव की ऐसी स्वतंत्रता का निर्णय किये बिना धर्म या शांति नहीं होती; इसलिये शांतिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि—हे जीवो! स्वाधीनता के बिना शांति नहीं होती; यदि तुम्हें शांति चाहिये हो, तो उसे अपने आत्मा में ही ढूँढ़ो। आत्मा की शांति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से बाहर नहीं होती। दुंदुभी के दिव्यनाद के बीच भगवान के उपदेश में ऐसा स्वतंत्रता का ढंढेरा पिटा है।

अमोघ वाणी

श्री तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में जब ऐसा स्वतंत्र वस्तुस्वभाव का उपदेश हुआ, तब अनेक पात्र जीव धर्म को प्राप्त हुए; भगवान की वाणी का पवित्र प्रवाह झेलकर अनेक जीव पावन-(पवित्र) हुए। भगवान की अपूर्व वाणी कानों में पड़ते ही कोई जीव तो अन्तर की गहराई में उतरकर आत्मभान को प्राप्त हुए, किन्हीं ने श्रावकदशा प्रगट की और कोई जीव अन्तर में विशेष एकाग्र होकर मुनि हुए, तथा कोई स्त्रियाँ अर्जिका हुईं। इस प्रकार भगवान की छत्रछाया में मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविक—ऐसे चारों तीर्थों की स्थापना हुई। तीर्थंकर भगवान की अमोघ देशना निकले और उस समय धर्म प्राप्त करनेवाले जीव न हों—ऐसा कभी नहीं हो सकता। भगवान की देशना के समय उसे झेलकर धर्मवृद्धि करनेवाले पात्र जीव होते ही हैं। कोई ऐसा कहे कि 'वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन महावीर भगवान को केवलज्ञान होने पर भगवान की वाणी खिरी, परन्तु उस समय कोई जीव धर्म को प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये भगवान की देशना निष्फल गई'—तो यह बात यथार्थ नहीं है। अमुक समय तक तीर्थंकर भगवान की वाणी न खिरे, यह दूसरी बात है, परन्तु वाणी खिरे और वह निष्फल जाये—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। भगवान की दिव्य वाणी तो 'अमोघ वाणी' है, वह कभी खाली नहीं जा सकती। वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ, परन्तु वाणी नहीं खिरी; वाणी तो छियासठ दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के

दिन खिरी। प्रथम यहाँ वाणी की योग्यता नहीं थी, और न सामने कोई वाणी झेलने वाला उत्कृष्ट पात्र जीव था। जब यहाँ वाणी छूटने का समय आया, तक सामने गौतमस्वामी की भी गणधर पद के लिये तैयारी हो गई; दोनों का मेल सहज ही हो जाता है। भगवान की वाणी खिरे और उसे झेलकर धर्म समझनेवाला पात्र जीव कोई न हो—ऐसा नहीं होता, अर्थात् वहाँ निमित्त-नैमित्तिक का मेल कभी नहीं टूटता। ऐसा होने पर भी, भगवान की वाणी के कारण सामनेवाला धर्म समझ जाता है—ऐसी पराधीनता भी नहीं है। वाणी से समझा हो तो सभी को सत्य समझ होनी चाहिये।

भगवान पूर्वभव में जब स्वयं साधक भूमिका में थे, उस समय अपने में धर्मवृद्धि के विकल्प से तीर्थंकर नामकर्म का बँध हुआ था, और उसी के उदय से दिव्यध्वनि खिरी; तो उस वाणी के समय उसे झेलकर धर्म की वृद्धि करनेवाले जीव भी अवश्य होते ही हैं—न हों ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार यहाँ भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि—जगत के जीवों को सत्य समझाने का विकल्प उठने से इस काल में हमारी वाणी की रचना हो रही है; तो उस वाणी को झेलकर सत् समझनेवाले भी इस काल में न हों—ऐसा नहीं हो सकता। देखो, पाँचवीं गाथा में वे कहते हैं कि—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जादि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥

—इस समयसार में मैं अपने आत्मा के निज वैभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शाता हूँ। 'मैं दर्शाता हूँ और तुम प्रमाण करना'—ऐसा कहा, तो वहाँ प्रमाण करनेवाले जीव न हों ऐसा नहीं हो सकता। शुद्ध आत्मा का कथन करनेवाली हमारी वाणी निकले और सामने शुद्धात्मा को समझने वाले न हों—ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। हम आत्मा की जो बात कहना चाहते हैं, उसे झेलनेवाले पात्र जीव भी हैं, उनसे हम कहते हैं कि 'तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना।' सन्मुख प्रमाण करनेवाले पात्र जीवों को देखकर यह वाणी निकलती है। 'मैं कहता हूँ, इसलिये तू मान लेना'—ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते, परंतु मैं अपने आत्मवैभव से कहता हूँ और तू अपने स्वानुभव से प्रमाण करना—ऐसा कहा है, इसलिये सामनेवाले पर उत्तरदायित्व रखा है, उसमें प्रमाण करने की शक्तिरूप सामनेवाले की योग्यता भी आ जाती है।

यहाँ उपादान-निमित्त की अपूर्व संधि से आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी शुद्धात्मा को

दर्शानेवाली वाणी को जिस जीव ने निमित्तरूप से स्वीकार किया है, उस जीव के उपादान में भी शुद्धात्मा को समझने की पात्रता है। 'अरे! इस दुषम पंचकाल में मेरी ऐसी शुद्धात्मा का कथन करनेवाली बात को प्रमाण करनेवाले नहीं मिलेंगे'—ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते, परन्तु 'मैं दर्शाऊँ उसे प्रमाण करना'—ऐसा कहकर वे कहते हैं कि 'हमने सीधा तीर्थंकर भगवान का दिव्य उपदेश झेला है; तो ऐसा नहीं हो सकता कि हमारे उपदेश को झेलकर समझनेवाले भरतक्षेत्र में न हों। जैसे—भगवान की अमोघ वाणी निकले और उसे झेलकर समझनेवाले न हों—ऐसा नहीं होता, उसीप्रकार हमारा यह शुद्धात्मा का उपदेश हो, और उसे समझनेवाले न हों—ऐसा नहीं हो सकता। देखो तो! यह अपूर्व संधि!'

धन्य वे वक्ता.... और धन्य वे श्रोता....

समयसार के श्रोता से श्री आचार्य प्रभु अनुरोध करते हैं कि—जैसा अखण्ड आत्मा मैं दर्शाता हूँ, वैसे ही आत्मा को तू अपने अनुभव से प्रमाण करना... अंतर से रुचि लाकर स्वीकार करना, स्वीकार ही करना... अस्वीकार मत करना। देखो, यह वक्ता और श्रोता! उपदेशक वक्ता शुद्धात्मा ही बतलाना चाहते हैं और श्रोता को भी शुद्धात्मा का स्वरूप समझने का ही उत्साह है। वहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—'मैं जो शुद्धात्मा बतलाऊँ, उसे तू प्रमाण करना'—उसमें आदेश से हुक्म नहीं दिया है, परंतु यथार्थ स्थिति बतलाई है कि जो जीव शुद्धात्मा को समझने का इच्छुक है, वही हमारा श्रोता है। सत् का आदर करके समझनेवाले जीव हमारे संयोग में न हों—ऐसा नहीं होता। हम अल्पकाल में सिद्ध होनेवाले हैं, तो हमारी बात को अस्वीकार करनेवाले हमारे संयोग नहीं हो सकते। तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जिस प्रकार अभव्य जीव नहीं होते, उसी प्रकार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के पास से सुनकर हम जो शुद्ध आत्मस्वभाव की बात करते हैं, उसका अस्वीकार करनेवाले हमारी सभा में नहीं हो सकते।

भगवान को पूर्व साधकदशा में धर्मबुद्धि के विकल्प से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ; उस कर्म के निमित्त से जो वाणी खिरी, वह सुनकर धर्म समझनेवाले जीव न हों—ऐसा नहीं हो सकता। भगवान की वाणी धर्मबुद्धि का निमित्त है... परन्तु किसे?—कि सामने धर्म समझनेवाले जीव हैं उन्हें। इस प्रकार समझने की योग्यतावाले पात्र जीव हैं, उनके लिये वाणी निमित्त है—ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक मेल है।—तथापि 'मेरी समझ में नहीं आता'—ऐसा कहकर जीव उस वाणी के साथ के निमित्तनैमित्तिकपने की संधि के मार्ग को तोड़ डालता है... परन्तु ऐसे उल्टे जीव

की यहाँ गिनती नहीं है, यहाँ तो 'हाँ' कहकर समझनेवाले पात्र जीवों की ही बात है। पात्र श्रोता जनों के कानों में वाणी पड़ते ही ऐसा लगता है कि 'अहो! मुझे ऐसी अपूर्व वाणी मिली है, तो मैं अवश्य अपनी पात्रता से समझकर अल्पकाल में मुक्त हो जाऊँगा। भगवान शुद्धात्मस्वभाव की ऐसी अपूर्व बात मेरे कानों में पड़ी और मेरे अन्तर में जम गई... इसलिये अब अल्पकाल में मेरी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।'

आचार्यदेव ने पाँचवीं गाथा में शुद्धात्मा का अनुभव करने को कहा है, तो वहाँ सन्मुख सामनेवाले जीव के वैसी योग्यता देखकर वैसा कहा है।—'किसकी योग्यता.... ?'—जो समझे उसकी! यहाँ तो सर्व जीवों को निमंत्रण है... उसमें से कोई निकल जाये तो वह उसकी अयोग्यता है; परन्तु वैसे जीवों को हम श्रोतारूप से स्वीकार ही नहीं करते। जो अंतर में स्वीकार करके यथार्थ बात समझ जाये, वैसे ही श्रोता को यहाँ लिया है।—ऐसे श्रोताओं को धन्य है, उनका अवश्य कल्याण हो जाता है। इस प्रकार वक्ता और श्रोता के बीच संधि की है।

दिव्यध्वनि का ढंढेरा

दिव्यध्वनि में चौदह ब्रह्माण्ड के जीवों को भगवान का आमंत्रण है कि 'अरे जीवो! तुम में परमात्मा होने की सामर्थ्य है, तुम मुक्ति के योग्य हो... यह मुक्ति का मण्डप लगा है; तुम भी अपनी परमात्मदशा को प्राप्त करने के लिये इस मोक्ष के मण्डप में आओ! मोक्ष की जड़ें गहरी हैं, संसार तो एक समय का ऊपरी विकार है, उसकी जड़ें गहरी नहीं हैं। भीतर स्वभाव की गहराई में विकार नहीं, परन्तु मोक्ष का सामर्थ्य भरा है। ऐसे अपने स्वभाव की श्रद्धा करो... यही धर्म का मूल है। धर्म के मूल गहरे हैं और विकार तो क्षणिक है; संसार के काल की अपेक्षा मोक्षअवस्था का काल-अनंत गुना है; संसार की जितनी पर्यायें बीती हैं, उनकी अपेक्षा अनंतगुनी मोक्ष पर्यायें प्रगट होने का सामर्थ्य आत्मा में भरा है।—ऐसे आत्मस्वभाव का भान करके, उसकी महिमा में लीन होने से संसारपरिभ्रमण दूर होकर मुक्तदशा हो जाती है। इसलिये हे जीवो! अंतर-अवलोकन द्वारा ऐसे आत्मा को पहिचानो, उसकी महिमा करो तो अल्पकाल में सिद्धदशा प्रगट हो....'—इसप्रकार आत्मा को पहिचानकर सिद्ध होने के लिये भगवान की वाणी का आमंत्रण है।●●

भगवान का आदर

परीक्षा करके

धर्म का स्वरूप जानना चाहिए

[पूज्य गुरुदेव का एक सरल प्रवचन]

[वीर सं० २४८० मगसिर शुक्ला ६]

यह मनुष्य देह प्राप्त करके निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है ? मनुष्यभव प्राप्त करके मेरा कल्याण कैसे हो सकता है ?—इस बात की किसे दरकार नहीं है और यों ही सांसारिक मजदूरी में जीवन बिताता है, उसका जीवन तो पशु जैसा है। जीव में आत्मा की दरकार करके जिसने अध्ययन किया होगा, उसे अन्त समय में उसका लक्ष रहेगा... जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा, वैसा ही योगफल आकर खड़ा हो जायगा। जिसे अपने आत्मा का हित करना है—ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि वह जीव-राजा को पहिचान कर उसकी श्रद्धा-बहुमान तथा सेवा-आरधना करे।

यह धर्म की परीक्षा करने की बात है। जिसे धर्म करना हो, उसे सच्चे धर्म की परीक्षा करना चाहिए। जगत् के लोग हीरा-माणिक-सोना इत्यादि पदार्थों की परीक्षा करते हैं, लेकिन अन्तर में चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है और उसका धर्म कैसा होता है—उसकी परीक्षा नहीं करते। बाह्य में पैसादि की प्राप्ति तो पुण्य के अनुसार होती है, उसमें बुद्धि काम नहीं आती, तथापि वहाँ परीक्षा करता है, तब फिर जिसे आत्मा में धर्म करना हो, उसे धर्म-अधर्म की परीक्षा करके उसका स्वरूप जानना चाहिये। आत्मा का स्वभाव क्या है, उसे धर्म कैसे होता है—वह जानना चाहिये।

यह देह-मन-वाणी तो जड़ हैं; पैसा भी जड़ है; भीतर चैतन्यतत्त्व भिन्न है; वह अनादि-अनंत है; न तो किसी ने उसे नया बनाया है और न कभी उसका नाश होता है; वह अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध तत्व है। ऐसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह परीक्षा करके जानना चाहिये। आत्मा में दया-दान या हिंसा के जो भाव होते हैं, वह धर्म नहीं है, और शरीर तो जड़ है, वह आत्मा से बाह्य वस्तु है—आत्मा की वस्तु नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान, वह स्वभाव है; पुण्य-पाप, वह विकार है और शरीर तो संयोग है;—इस प्रकार तीनों को पहिचान कर ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही आदरणीय मानना, वह धर्म है। जड़ शरीरादि बाह्य पदार्थ तो पृथक् ही हैं, इसलिये वे हेय

नहीं हैं और उपादेय भी नहीं हैं; वे तो ज्ञेय हैं। पुण्य-पाप विकार होने से हेय हैं और ज्ञानानन्द-स्वभाव उपादेय हैं। ज्ञेय स्व-पर सभी कुछ है।—इसप्रकार हेय-ज्ञेय और उपादेय—समस्त तत्त्वों को परीक्षा करके पहिचानना चाहिये।

यह मनुष्य देह प्राप्त करके निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? यह शरीर तो पृथक् वस्तु है; आत्मा इससे भिन्न है। सगे-सम्बन्धी तो इस शरीर को पहिचानते हैं—आत्मा को नहीं जानते। शरीर में कोई रोग हो तो पूछते हैं कि भाई! कैसी तबियत है? लेकिन आत्मा में अनादिकालीन अज्ञानरोग लगा है, उसकी खबर कोई पूछता है? यहाँ से मरकर आत्मा कहाँ जायेगा? अरे! यह शरीर तो अल्पकाल रहनेवाला है, वह आत्मा के साथ सदैव नहीं रहेगा; और अंतर में जो पुण्य-पाप तथा क्रोध-मान-माया-लोभादि के भाव होते हैं, वे भी क्षणिक वृत्तियाँ हैं—वह धर्म नहीं है। अन्तर में ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा सदैव रहनेवाला तत्व है; वह क्या है, उसे जानना चाहिये। वह मनुष्यभव प्राप्त करके अब मेरा हित कैसे हो?—उसकी जिसे दरकार नहीं है और यों ही सांसारिक मजदूरी में जीवन बिताता है, उसका जीवन तो पशु जैसा है। भाई! जब यह शरीर भी तेरा नहीं है, तो फिर बाह्य में प्रत्यक्ष अलग दिखाई देते हैं, उन स्त्री-पुत्र-पैसादि की तो बात ही कहाँ रही! पैसा कमाने में अज्ञानी को सुख का भास होता है, किन्तु पैसा कमाने का भाव तो पापभाव है; फिर भी अज्ञानी को सन्निपात के रोगी की भाँति उसमें सुख भासित होता है। पराश्रित होकर जीता है, वही दु:ख है। मैं ज्ञानमूर्ति भगवान हूँ—यह तो जो जानता नहीं है और ऐसा मानता कि मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता, वह जीव महान दु:खी है। मेरा परवस्तु के बिना नही चल सकता—यह मान्यता ही महान दु:ख है। जिसप्रकार हर्ष का सन्निपात हुआ हो तो वह रोगी हँसता दिखाई देता है, लेकिन वह दु:खी है, कुछ ही समय में वह मर जायेगा। उसीप्रकार अज्ञानी जीव को मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्ररूपी त्रिदोष हुआ है, इसलिये वह सन्निपात के रोगी की भाँति स्त्री-पुत्र-पैसे में सुख मानकर वहाँ रुचि करता है, लेकिन वह सुखी नहीं है, वह आकुलता से दु:खी ही है।

देखो, निर्धनता कोई दोष नहीं है और सधनता कोई गुण नहीं है। बाह्य अनुकूलताओं के आधार से गुण या दोष नहीं हैं। उसी प्रकार शरीर में रोग होना कोई दोष नहीं है और सुन्दर शरीर होना कोई गुण नहीं है। शरीरादि संयोगों के आधार से आत्मा के गुणदोष नहीं है; किन्तु शरीर है, सो मैं हूँ, पैसे में सुख है,—ऐसा जिसे मिथ्याभिमान है, उसी जीव को मिथ्यात्व का महान दोष है;

और जिसे शरीरादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप का भान है, वह जीव गुणवान है। चावल लेने जाता है तो वहाँ भी नमूना देखकर और जाँच करके खरीदता है, तब फिर धर्म क्या वस्तु है, उसे भी परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। स्वयं पहिचाने बिना यों ही मान ले कि देव-गुरु ने कहा वह सच्चा है और उसके भाव को न जाने तो उसे लाभ नहीं हो सकता; सच्चे-झूठे की परीक्षा स्वयं करना चाहिए।

वर्तमान में त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं, उन्होंने क्या तत्व कहा है, वह स्वयं न जानें और यों ही—''जो भगवान ने कहा सो सच्चा''—ऐसा मान लें तो उस से अपने को सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं होगा। इसलिये देव-गुरु ने जो कुछ कहा है, उसमें हेय-ज्ञेय और उपादेय तत्वों की परीक्षा करके स्वयं पहिचानना चाहिये।

जीव को बाह्य संयोग दुःखदायक नहीं हैं। शरीर में रोग हो, बिच्छू काटे, उसका जीव को किंचित् दुःख नहीं है; किन्तु अंतर में—''शरीर मैं हूँ, मुझे बिच्छू ने काटा''—ऐसा जो मोहभाव है, उसी का दुःख है।—ऐसा पहले निश्चित् करना चाहिये। अब, अंतर में जो राग-द्वेष के भाव होते हैं, वे भी क्षणिक हैं, उनमें भी जीव का सुख नहीं है। अंतर में ज्ञानस्वरूप आत्मा है; उस ज्ञान में पाँच वर्ष पहले की बात भी इसी समय ज्ञात होती है। दूर की वस्तु यहाँ बैठे-बैठे भी ज्ञान के ख्याल में आती है। विकार पहले हुआ हो, उसे ज्ञान आज जाने, फिर भी ज्ञान में वैसा विकार नहीं होता। देखो यह ज्ञान का स्वभाव!! ज्ञान तो ज्ञातास्वरूप है, उस ज्ञान में विकार नहीं है, संयोग नहीं है। ऐसी ज्ञानस्वभावी वस्तु आत्मा है, उसे पहिचान। बाजार में मिसरी लेने जाये तो वहाँ नीचे दर्जे की मिसरी पसन्द नहीं करता; फिर आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण जानने के सामर्थ्यवाला है, उस ज्ञान की हीन अवस्था पसन्द करने योग्य नहीं है; किन्तु परिपूर्ण जाने ऐसी पूर्ण दशा ही आदरणीय है। भाई, तेरा ज्ञानस्वभाव पूर्ण जाने ऐसा है, किन्तु राग-द्वेष करके रुक जाये, ऐसा नहीं है,—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर। ऐसा निर्णय करके ज्ञानस्वभाव का आदर करना, वह हित का उपाय है।

भाई! आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ होकर पूर्ण जाने ऐसा है; उसके बदले स्त्री-पैसा-शरीरादि में मेरा सुख है—ऐसा मानकर राग-द्वेष-मोह में रुक गया है, इसलिये ज्ञान संकुचित हो गया है, किन्तु ज्ञान में सर्वज्ञता होने की शक्ति है, उसे पहिचानकर उसमें एकाग्र हो तो पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाये और राग-द्वेष दूर हो जाये। जिस प्रकार लैंडीपीपल में चौंसठपुटी चरपराहटरूप होने की शक्ति है; लेकिन जब वह 'व्यक्त हो जाये तब दवा में काम आती है'; उसी प्रकार सर्वज्ञ

भगवान और संत-मुनि कहते हैं कि भाई! तुझ में सर्वज्ञपद होने की शक्ति भरी है, उसमें से सर्वज्ञता प्रगटे तो वह पसंद करने योग्य है, उसके अतिरिक्त अल्पज्ञता और राग-द्वेष पसन्द करने योग्य नहीं है।—ऐसा अन्तर में भाव भासन होना चाहिए। अंतर में भास होना चाहिए कि अहो! मैं तो ज्ञानस्वभाव जीवतत्व हूँ, पुण्य-पापतत्त्व मेरी स्थायी वस्तु नहीं है, और बाह्य संयोग-वियोग भी मेरी वस्तु नहीं है! मैं संयोग से बिलकुल पृथक् हूँ; क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति भी मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; मुझमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है—ऐसा जानकर उस परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्य का आदर करना, वह हित का उपाय है। जीवन में जिसने इस बात का अभ्यास किया होगा और आत्मा की दरकार की होगी, उसे मृत्यु के समय उसका लक्ष रहेगा। लेकिन जिसने जीवनभर दरकार नहीं की, वह मृत्यु के समय क्या करेगा? जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा, वैसा ही योगफल आकर खड़ा रहेगा। देखो, किसी के घर बड़ा भारी राजा आया हो और उसी समय दुकान पर दो आने की चीज लेने कोई गड़रिया आ पहुँचे, तो वह राजा का आदर करता है, गड़रिये के पास नहीं रुकता; उसी प्रकार जिसे आत्मा का हित करना है, आत्मा का कल्याण करना है, वह जीव अंतर में चैतन्यराजा का आदर करता है, किन्तु क्षणिक पुण्य-पाप के या संयोग के आदर में नहीं रुकता। समयसार में भी कहा है कि—जिस प्रकार धन का लोभी आदमी, राजा को पहिचानकर उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार जिसे अपने आत्मा का हित करना है, ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि जीवराजा को पहिचानकर उसकी श्रद्धा-बहुमान और सेवा-आराधना करे। "अहो! मेरा आत्मा तो चैतन्यस्वभाव है, वह राग जितना नहीं है, शरीरादि संयोग के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है"—इस प्रकार चैतन्यस्वभाव को पहिचाने तो आत्मा का कल्याण होता है। इसलिये सत्समागम से परीक्षा करके यह बात बराबर समझने योग्य है।

अरिहंत भगवान को पहिचानो!

[अनादि के मोह का क्षय करके अपूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की रीति]

[श्री प्रवचनसार गाथा ८० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से]

❀ लेखांक—२ ❀

श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार हो।!

❀

जिसे आत्मा का अपूर्व हित करना हो, उसे अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? वह जानना चाहिए; और जानने के लिये अरिहंत भगवान का स्वरूप जानना चाहिए। अरिहंत भगवान को पहिचानने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाना जाता है।

❀

अरिहंत भगवान के आत्मा को जानने से अनुमान प्रमाण से अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है कि अहो! मेरे आत्मा का स्वरूप तो ऐसा सर्व प्रकार से शुद्ध है, पर्याय में विकार, वह मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; अरिहंत में जो नहीं है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; जितना अरिहंत में है, उतना ही मेरे स्वरूप में है; निश्चय से मुझमें और अरिहंत में कोई अन्तर नहीं है;—ऐसी आत्मप्रतीति होने से, अज्ञान और विकार का कर्तृत्व छूटकर जीव अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, इसलिये स्वभाव में पर्याय की एकता होने से सम्यग्दर्शन हुआ। अब पुरुषार्थ द्वारा उस स्वभाव के ही आधार से रागद्वेष का सर्वथा क्षय करके, अरिहंत भगवान जैसी ही पूर्ण दशा वह जीव प्रगट करेगा।

❀

यह बात खास समझने जैसी है; इसमें अकेले पर की बात नहीं है। अरिहंत भगवान को जानना कहा, उसमें वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को जानना कहा है। अरिहंत भगवान जैसा ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वभाव स्थापित करके, उसे जानने की बात की है। जो जीव पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध स्वभाव को जाने, उसे धर्म होता है; जो जीव ऐसा जानने का पुरुषार्थ न करे, उसे धर्म नहीं होता। इस प्रकार इसमें यथार्थ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं; और सत्त निमित्तरूप से अरिहंत देव हैं—वह बात भी आ जाती है। अरिहंत भगवान के सिवा जो अन्य कुदेवादि को मानता हो, उसे मोह-क्षय नहीं होता।

ध्यान रखना, यह अपूर्व बात है; इसमें अकेले अरिहंत की बात नहीं है किन्तु अपने आत्मा को मिलाकर बात है। अरिहंत भगवान के साथ अपने आत्मा का इस तरह मिलान करना चाहिए कि—'अहो! यह आत्मा तो केवलज्ञानस्वरूप है; अरिहंत भगवान के पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य है और विकार किंचित्मात्र भी नहीं है; मेरा आत्मा भी अरिहंत जैसे स्वभाववाला है।'

❀

जिसने ऐसी प्रतीति की, उसे अब स्वद्रव्योन्मुख होना ही रहा, किन्तु निमित्तों की ओर ढलना नहीं रहा; क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव में से आती है; निमित्त में से नहीं आती; और उसे पुण्य-पाप या अपूर्ण दशा की ओर देखना भी नहीं रहा, क्योंकि वह भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसमें से पूर्णदशा नहीं आती। जिसमें पूर्णदशा प्रगट होने का सामर्थ्य है—ऐसे अपने द्रव्य-गुण में ही पर्याय की एकाग्रता करना रहा; ऐसी एकाग्रता की क्रिया करते-करते पर्याय शुद्ध हो जाती है और मोह दूर हो जाता है।

—ऐसी एकाग्रता की क्रिया कौन करता है? जिसने प्रथम अरिहंत भगवान को पहिचाना हो और अरिहंत जैसा अपने आत्मा का स्वरूप ख्याल में लिया हो, वह जीव पर्याय की अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करने के लिये अपने शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है। किंतु जो जीव, अरिहंत समान अपने स्वरूप को नहीं पहिचानता और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा है, वह जीव अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करता। इसलिये सर्व प्रथम आत्मा का शुद्ध स्वरूप पहिचानना चाहिए और उसके लिये अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना चाहिए, यह धर्म की रीति है।

❀

इस समय इस भरतक्षेत्र में अरिहंत भगवान नहीं विचरते; किन्तु यहाँ से थोड़ी दूर महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवानादि तीर्थंकर अरिहंतरूप से साक्षात् विचरते हैं। क्षेत्र से अमुक अंतर होने पर भी भाव से स्वयं अपने ज्ञान में अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करे तो उसमें क्षेत्र का अन्तर बाधक नहीं होता। जिसने अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मस्वभाव का निर्णय किया, उसके तो अपने भाव में अरिहंत भगवान सदैव निकट ही वर्तते हैं। "जैसे अरिहंत, वैसा मैं"—ऐसी प्रतीति के बल से भाव में से उसने अरिहंत भगवान के साथ का अन्तर तोड़ दिया है।

❀

किसी को ऐसी शंका हो कि इस समय तो अरिहंत नहीं हैं; फिर उनके स्वरूप का निर्णय कैसे हो सकता है ? उसका समाधान:— यहाँ अरिहंत की उपस्थिति की बात नहीं की, किन्तु अरिहंत का स्वरूप जानने की बात की है। यहाँ अरिहंत की साक्षात् उपस्थिति हो, तभी उनका स्वरूप जाना जा सकता है—ऐसा नहीं है। इस समय इस क्षेत्र में अरिहंत भगवान नहीं है किन्तु महाविदेहक्षेत्र में तो इस समय भी अरिहंत भगवान साक्षात् विराजमान हैं और ज्ञान द्वारा उनके स्वरूप का नि:सन्देह निर्णय हो सकता है।

❀

सामने साक्षात् अरिहंत भगवान विराजते हों, तब भी ज्ञान द्वारा ही उनका निर्णय होता है। परम औदारिकशरीर, समवशरण, दिव्यध्वनि, वह कहीं वास्तव में अरिहंत भगवान का स्वरूप नहीं है; वह सब तो आत्मा से पृथक् है। चैतन्यस्वरूप आत्मा, वह द्रव्य; ज्ञान-दर्शनादि उसके गुण और केवलज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्दादि पर्याय-ऐसे द्रव्य-गुण पर्याय से अरिहंत भगवान का स्वरूप पहिचाने तो अरिहंत को जाना कहा जाता है।

❀

क्षेत्र से निकट अरिहंत की उपस्थिति हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं उसके साथ सम्बन्ध है। क्षेत्र से निकट अरिहंत प्रभु विराज रहे हों, किन्तु उस समय यदि ज्ञान द्वारा जीव उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता और उसके लिये तो अरिहंत भगवान अति दूर हैं।

और इस समय अरिहंत प्रभु क्षेत्र से निकट न होने पर भी, यदि अपने ज्ञान द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय करे तो उसके लिये अरिहंत प्रभु निकट उपस्थित हैं।

❀

इस समय इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में साक्षात् अरिहंत भगवान की अनुपस्थिति में भी जिन आत्माओं ने अपने ज्ञान में अरिहंत भगवान के स्वरूप का (—द्रव्य-गुण-पर्याय का) सच्चा निर्णय किया है और वैसा ही अपना स्वरूप है—ऐसा जाना है, उनके लिये तो अरिहंत भगवान साक्षात् विराजमान हैं।

❀

देखो, इसमें किसकी महिमा है ? अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करनेवाले ज्ञान की महिमा है। भाई रे ! इस क्षेत्र में अरिहंत नहीं हैं, किन्तु अरिहंत का निर्णय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है

न! उस ज्ञान के बल से अरिहंत का निर्णय करके क्षेत्र भेद निकाल दे। ज्ञान को अरिहंत का निर्णय करने में क्षेत्रभेद बाधक नहीं होता।—अहो! अरिहंत प्रभु के विरह को भुला दे—ऐसी यह बात है।

❀

जिसने अपने भाव में भगवान को निकट किया, उसको तो भगवान सदैव निकट ही वर्तते हैं; और जिसने अपने भाव में भगवान को दूर किया (अर्थात् भगवान को नहीं पहिचाना), उसको भगवान दूर हैं,—फिर भले ही क्षेत्र से निकट हों।

❀

द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करने से पूर्ण स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरिहंत भगवान को जो पूर्ण निर्मलदशा प्रगट हुई, वह कहाँ से प्रगट हुई है? जहाँ सामर्थ्य था, वहाँ से प्रगट हुई है। स्वभाव में पूर्ण सामर्थ्य था, उसकी सन्मुखता से वह दशा प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरिहंत भगवान जैसा परिपूर्ण है, स्वभाव सामर्थ्य में कोई अन्तर नहीं है। बस! ऐसी स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करते ही मोह दूर हो जाता है और सम्यक्त्व होता है।—यह सम्यक्त्व का उपाय है।

❀

जिस प्रकार अरिहंत भगवान अपने ज्ञान में सब कुछ जानते हैं, किन्तु परद्रव्य का कुछ नहीं करते; और राग-द्वेष-मोह भी उनके नहीं हैं; उसी प्रकार मेरा आत्मा भी वैसा ही ज्ञातास्वरूपी है;—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह मोहक्षय का कारण है।

❀

जो जीव ऐसी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति न करे और विपरीत माने, उसने वास्तव में अरिहंत भगवान को भी नहीं पहिचाना है और वह अरिहंत भगवान का सच्चा भक्त नहीं है।

जिसने अरिहंत भगवान के सच्चे स्वरूप को जाना और उसके द्वारा अपने आत्मस्वरूप का निर्णय किया, यह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है; वही सच्चा जैन है; वह जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन है। प्रथम ऐसा निर्णय करना कि जिनेन्द्रदेव जैसा ही अपना स्वभाव है, वह जैनत्व है; और फिर स्वभाव के अवलम्बन से पुरुषार्थ द्वारा वैसी पूर्ण दशा प्रगट करता, वह जिनत्व है। अरिहंत के पूर्णस्वरूप को जाने बिना और उनके जैसे अपने निजस्वभाव को पहिचाने बिना सच्चा जैनत्व अंशमात्र भी नहीं हो सकता; इसलिये धर्म नहीं होता।

❀

अहो! अरिहंत भगवान अपने स्वभाव से ही स्वयं सुखी हैं; इंद्रिय-विषयों के बिना हो उनका आत्मा सुखरूप परिणमित हो रहा है; इसलिये सुख, वह आत्मा का ही स्वरूप है। स्वभाव से ही स्वयमेव सुखरूप हुए अरिहंत भगवंतों को शरीर का संयोग होने पर भी आहार, जल, औषधि या वस्त्रादि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार १८ दोष रहित और अनंतगुणसहित ऐसा अरिहंत के आत्मा को पहिचानकर उसके साथ अपने आत्मा की तुलना करे तो अपना स्वतंत्र स्वभाव प्रतीति में आ जाये कि—अहो! कभी भी किन्हीं संयोगों में मेरा सुख नहीं हैं; सुख तो मेरा अपना स्वभाव है; मात्र मेरा स्वभाव ही सुख का साधन है। ऐसी समझ होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

❀

अरिहंत भगवान को परिपूर्ण अतीन्द्रिय सुख है; उनकी पहिचान होने पर अतीन्द्रिय सुख की पहिचान होती है और इंद्रिय-विषयों में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है।

❀

अरिहंत भगवान को पहले अज्ञानदशा थी, फिर ज्ञानदशा प्रगट हुई;—इन अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में अरिहंत के जो नित्य स्थित रहा है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहले अज्ञानदशा में था, वही इस समय ज्ञानदशा में है—ऐसे पहले-फिर को जोड़रूप अन्वयरूप जो अखण्ड ज्ञानानंदस्वरूप पदार्थ है, वह द्रव्य हैं। पर्यायें पहले-फिर को जोड़रूप अन्वयरूप नहीं हैं किन्तु पृथक्-पृथक् हैं। पहली अवस्था, वह दूसरी नहीं है; दूसरी अवस्था, वह तीसरी नहीं है—इसप्रकार अवस्था में परस्पर भिन्नत्व है; और द्रव्य तो जो पहले समय में था, वही दूसरी समय में है; दूसरे समय में था, वही तीसरे समय है—इस प्रकार द्रव्य में अखण्डता है।—ऐसा जाने तो अकेली पर्यायबुद्धि दूर होकर स्वद्रव्य सन्मुख हो जाये।

❀

किस अवस्था के समय द्रव्य-सामर्थ्य नहीं है?—सभी अवस्थाओं के समय द्रव्यसामर्थ्य ज्यों का त्यों एकरूप है। जितना अरिहंत भगवान का द्रव्यसामर्थ्य है, उतना ही अपना द्रव्यसामर्थ्य है। यह जानने से ऐसा प्रतीति होता है कि इस समय मेरी अपूर्ण दशा होने पर भी अरिहंत भगवान जैसी पूर्ण दशा भी मुझमें से ही प्रगट होना है और उस पूर्ण दशा में भी मैं ही स्थित रहनेवाला हूँ।

❀

द्रव्य का विशेषण, वह गुण है। जैसे कि सोना कैसा है ? तो कहते हैं कि सोना पीला, भारी, चिकना है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य कैसा ? तो कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप, चारित्रस्वरूप है;—इस प्रकार आत्मद्रव्य को ज्ञानादि विशेषण लागू होते हैं; इसलिये वे आत्मा के गुण हैं। जितने गुण अरिहंत भगवान के आत्मा में हैं, उतने ही गुण इस आत्मा में हैं। अरिहंत के और इस आत्मा के द्रव्य-गुण में अन्तर नहीं है। पर्याय में जो अन्तर है, वह द्रव्य के अवलंबन से दूर हो जाता है।

❀

अरिहंत जैसा होने का उपाय क्या ?—तो कहते हैं कि अरिहंत भगवान जैसे ही अपने द्रव्य-गुण हैं—ऐसा जानकर उनका अवलंबन करना, वह अरिहंत जैसा होने का उपाय है।

❀

जितने अरिहंत हुए हैं, उन सर्व अरिहंत भगवन्तों ने अपने द्रव्य का अवलंबन करके ही अरिहंतदशा प्रगट की है; उसी प्रकार सर्व जीवों के लिये अपने द्रव्य का अवलंबन करना ही सम्यग्दर्शन का और अरिहंतपद का उपाय है।

❀

इस आत्मा का स्वभाव अरिहन्त भगवान जैसा किस प्रकार है, वह जाने बिना, दया-भक्ति-व्रत-पूजा या शास्त्राभ्यासादि चाहे जितना करे, तथापि किसी भी प्रकार धर्म नहीं होता। धर्म करने के लिये प्रारम्भिक कर्तव्य यह है कि अरिहंत भगवान का और उनहीं जैसे अपने आत्मा का निर्णय करना।

❀

अरिहंत भगवान के स्वभाव में और इस आत्मा के स्वभाव में निश्चय से कुछ भी अंतर माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता।

❀

अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लेने से अपने परमार्थ स्वरूप का ख्याल आता है। भगवान के द्रव्य-गुण पूरे हैं और उनकी पर्याय सम्पूर्ण ज्ञानमय है—ऐसा निर्णय करने से, मेरे द्रव्य-गुण तो पूर्ण हैं और पर्याय सम्पूर्ण ज्ञानरूप और विकार रहित होना चाहिए—ऐसी प्रतीति होती हैं; और उस प्रतीति के बल से पूर्णता की ओर का पुरुषार्थ बढ़ता है।

❀

''पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ'' यानी जैसे अरिहन्त, वैसा मैं—ऐसे लक्ष से धर्म प्रारम होता है। स्वभाव सामर्थ्य की पूर्णता भासित हुए बिना किसका आश्रय लेकर धर्म करेगा? अल्पता, तुच्छता से आश्रय से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु प्रभुता को पहिचानकर उसके बल से प्रभुता का पुरुषार्थ बढ़ता है। अपनी प्रभुता को जाने बिना धर्म के अपूर्व पुरुषार्थ का सच्चा उल्लास आता ही नहीं।

❀

अरिहंत भगवान के साथ तुलना करके जीव अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करता है कि जैसे अरिहंत भगवान हैं, वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार अरिहन्त के स्वरूप को जानने से जीव स्वसमय को जान लेता है, और स्वसमय को जानने से उसका मोह दूर हो जाता है।—यह अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है।

❀

अरिहंत भगवान की पर्याय में राग का अभाव है, इसलिये राग आत्मा का असली स्वरूप नहीं है;—इस प्रकार अरिहंत भगवान को पहिचानने से आत्मा और राग का भेदज्ञान होता है।

❀

ज्ञानपर्याय एक समयपर्यंत की होने पर भी, उसमें त्रिकाली द्रव्य का निर्णय करने का सामर्थ्य है। सर्वज्ञ भगवान के सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को और वैसे ही अपने आत्मा को निर्णय में ले ले—ऐसा सामर्थ्य ज्ञान का ही है, राग में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अन्तर्मुख होकर त्रिकाली स्वभाव के साथ तन्मय हो जाये—ऐसी एक समय की ज्ञानपर्याय की शक्ति है, किन्तु किसी भी राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव के साथ तन्मय हो सके!

❀

अरिहंत भगवान का आत्मा सर्वतः विशुद्ध है; उनकी पर्याय भी अनंत चैतन्यशक्ति संपन्न है; ऐसा लक्ष में लिया, उस समय अपने को वैसी शुद्ध पर्याय नहीं वर्तती किन्तु राग वर्तता है, तथापि 'राग मेरी अवस्था का मूलस्वरूप नहीं है; मेरी अवस्था अरिहंत भगवान जैसी अनंत चैतन्य शक्ति सम्पन्न, रागरहित होना चाहिए'—ऐसा निर्णय स्वसन्मुखता से होता है; और ऐसा निर्णय होने से राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव के साथ एकत्वबुद्धि होती है, इसलिये मोह दूर होकर सम्यग्दर्शन होता है।

जिस ज्ञानपर्याय ने अरिहंत भगवान के आत्मा का निर्णय किया, उसमें अपने त्रिकाली स्वरूप का निर्णय करने की भी शक्ति है। त्रिकाली वस्तु का निर्णय करने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता किन्तु वर्तमान एक पर्याय द्वारा त्रिकाली वस्तु का निर्णय होता है।

❀

जीव को सुख की आवश्यकता है; इस जगत में सम्पूर्ण सुखी श्री अरिहंत प्रभु हैं; इसलिये 'सुख की आवश्यकता है'—उसका अर्थ यह हुआ कि अरिहंत भगवान जैसी दशारूप अपने को होना है। जिसने अरिहंत भगवान को पहिचाना हो और अपने आत्मा को अरिहंत भगवान जैसा जाना हो, वही अरिहंत भगवान जैसी दशारूप होने की भावना करता है। इस प्रकार अरिहंत भगवान को पहिचाने बिना सुख का सच्चा उपाय नहीं हो सकता।

❀

मुझे अरिहंत भगवान जैसा पूर्ण सुख प्रगट करना है, यानी अरिहंत भगवान जैसा सामर्थ्य मेरे आत्मा में है—ऐसा जिसने स्वीकार किया, उसने अरिहंत भगवान जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अपने में से सब निकाल दिया है, यानी वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी प्रतीति की। आत्मा, पर का कुछ करता है, निमित्त से लाभ-हानि होती हैं या शुभराग से धर्म होता है—यह सारी मान्यता दूर हो गई; क्योंकि अरिहंत भगवान के आत्मा में वह कुछ नहीं है।

❀

अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने से अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय पहिचाने जाते हैं; इस प्रकार आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, समस्त पर्यायों और गुणों को एक चैतन्यद्रव्य में ही अन्तर्गत करने से एकाकार चैतन्यद्रव्य ही लक्ष में रह जाता है; उस क्षण सर्व विकल्पों की क्रिया अटक जाती है और मोह का नाश होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है।

❀

जिसने भगवान के साथ तुलना करके आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का वास्तविक स्वरूप निश्चत किया हो, वह गुण-पर्यायों को एक परिणमित द्रव्य में समावेश करके द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष में ले सकता है। अरिहंत जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, जिसने गुण-पर्यायों का एक स्वद्रव्य में संकलन किया, उसने पर्याय को अन्तर्मुख करके आत्मा को अपने स्वभाव में ही धारण कर रखा; वहाँ मोह किसके आधार से रहेगा ?—इसलिये निराश्रय हुआ मोह उसी क्षण नष्ट

हो जाता है। जितनी द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता हुई, उतना धर्म है।

❀

जिस क्षण ज्ञान अभेद चैतन्य द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ, उसी क्षण पर्यायभेद और गुण-भेद—दोनों का लक्ष एक साथ छूट गया है। अभेद स्वभाव की ओर ढले हुए ज्ञान में से भेद का विकल्प छूट गया है। निर्विकल्प होकर ऐसे अभेद चैतन्य का अनुभव करने में अपूर्व पुरुषार्थ है।

❀

देखो, इस ज्ञान का सामर्थ्य! अहो! एक समय की ज्ञानपर्याय में अनंत केवली भगवन्तों का निर्णय करने की शक्ति है। जिस ज्ञान में अरिहन्त भगवान के केवलज्ञान का निर्णय किया, उस ज्ञान में अपने स्वभाव का भी निर्णय करने की शक्ति है।

❀

वस्तु का वास्तविक स्वरूप जैसा हो, वैसा माने तो वस्तुस्वरूप और मान्यता दोनों एक होने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह जानने के लिय अरिहन्त भगवान को पहिचानने की आवश्यकता हैं; क्योंकि अरिहन्त भगवान द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं। जैसे अरिहन्त भगवान हैं, वैसा जब तक यह आत्मा न हो, तब तक उसकी पर्याय में दोष है, अशुद्धता है। अरिहंत भगवान जैसी अवस्था कब होती है? पहले अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्णय करे, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होता है यानी अरिहन्त भगवान जैसा अंश प्रगट होता है और फिर उस शुद्ध स्वरूप में लीन होने से सर्व मोह का नाश होकर साक्षात् अरिहन्त भगवान जैसी शुद्धदशा प्रगट हो जाती है।

❀

अरिहन्त भगवान जैसा ही मेरा स्वरूप है—इस प्रकार अपने आत्मा को मिलाकर, अरिहन्त के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप में भी निःशंकता हो जाती है; यदि अपने स्वभाव की निःशंकता न हो तो अरिहन्त के स्वरूप का भी यथार्थ निर्णय नहीं है। जिसने अरिहन्त का और अरिहन्त जैसे अपने स्वरूप का निर्णय किया, उसने मोह-क्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है।

❀

अहो! अरिहन्त भगवान जैसे पूर्ण स्वरूपी आत्मा का साक्षात् अनुभव है—तो फिर क्या नहीं है? भले ही पंचमकाल हो और साक्षात् अरिहन्त भगवान का विरह हो, किन्तु जिसने अन्तर में

अरिहन्त भगवान जैसे अपने स्वभाव का अनुभव किया है, उसने समस्त मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।—इस प्रकार धर्मी को निशंकता होती है कि मेरा स्वभाव मोह का नाशक है।

× × ×

❀ अरिहन्त भगवान सर्वथा मोहरहित हो गये हैं और उन अरिहन्त जैसा का आत्मा स्वभाव है—ऐसी जिसने प्रतीति की, उसके भी अल्पकाल में समस्त मोह का नाश हो जाता है। धर्मी जानता है कि अरिहन्त भगवान जैसा मेरा स्वभाव है, वह स्वभाव मोह का नाशक है; और उस स्वभाव की प्राप्ति तो मुझे हुई है; इसलिये मोह का सर्वथा क्षण हो जायेगा, उसमें शंका नहीं पड़ती। हमारे आत्मा में सर्व सामर्थ्य है—उसके बल से दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात अरिहन्त दशा प्रगट करेंगे।

हे जीवो!

अरिहंत भगवान को पहिचानो और उन जैसे अपने आत्मा को पहिचानो!

संसार का मूल

अज्ञानी अपने रागादि दोष पर से मानता है, और अपने ज्ञानादि गुण भी पर से मानता है, इसलिये उसे आत्मा के स्वाधीन गुणों की श्रद्धा नहीं है; और गुणवान ऐसे आत्मा की भी वास्तव में उसे श्रद्धा नहीं है। पर में से अपने गुण लेना चाहता है—ऐसी उसकी पराधीन बुद्धि ही मिथ्या होने से दु:खरूप है। वह जीव जिसको अपने दोष का कारण मानता है, उस पर एकत्वबुद्धि से अनंता द्वेष करता है, और जिससे गुण मानता है, उस पर एकत्वबुद्धि के अनंता राग करता है।—यह अनंत संसार के परिभ्रमण का मूलकारण है।

सच्चा श्रोता
और
श्रवण का तात्पर्य

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की रुचि और सन्मुखतापूर्वक जिसने ज्ञानी के पास से एक बार भी शुद्ध आत्मस्वभाव की बात सुनी, वह श्रोता अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। श्री पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता!
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाणभाजनम्॥

राग की प्रीति नहीं, व्यवहार की प्रीति नहीं; किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रीति करके उसकी ओर के उल्लास से जिस जीव ने उसकी कहानी सुनी है, वह जीव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। 'अहो! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायकतत्व की बात है, अपने ज्ञायकतत्व की प्रतीति करने में किसी राग का अवलम्बन है ही नहीं;'—ऐसे लक्षपूर्वक यानी स्वभाव की ओर के उत्साहपूर्वक एक बार भी जो जीव यह बात सुने, वह भव्य जीव अवश्य अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। देखो, ऐसे ही सुन लेने की यह बात नहीं है, किन्तु साथ ही श्रोता पर आत्मा का निर्णय करने का उत्तरदायित्व है। अनादि से जो मान रखा था, उसमें और इस बात में कहाँ मूलभूत अन्तर पड़ता है, वह बराबर समझकर निर्णय करना चाहिए। अभी तक अपनी मान्यता में कहाँ भूल थी और अब यह बात सुनने से उसमें कहाँ अन्तर पड़ा?—उसका भेद किए बिना यों ही सुन जाये तो उससे आत्मा को सत्य का किंचित् लाभ नहीं होगा। अकेले शब्द तो पूर्वकाल में अनन्तबार सुने, किन्तु तत्वनिर्णय के बिना आचार्यदेव उसे श्रवणरूप नहीं मनाते; इसलिये समयसार में कहा है कि जीवों ने शुद्ध आत्मा की बात पूर्वकाल में कभी सुनी ही नहीं है। शुद्ध आत्मा के शब्द तो सुने किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा का निर्णय नहीं किया, इसलिये उसने शुद्ध आत्मा की बात वास्तव में सुनी ही नहीं है। देखो, श्रवण का सच्चा तात्पर्य क्या है, वह बात भी इसमें आ गई। श्रवण में पर लक्ष

से जो शुभराग होता है, वह वास्तव में तात्पर्य नहीं है, किन्तु तत्व का निर्णय करके अन्तर में शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सच्चा तात्पर्य है।

'अहो! जब देखो तब एक समय में परिपूर्ण तत्व अन्तर में भरा है। भगवान आत्मा अपने स्वभाव की परिपूर्ण शक्ति का संग्रह करके बैठा है, उसके स्वभाव सामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं हुआ है, और तीन काल में एक समय भी उसी स्वभाव का विरह नहीं है; स्वयं जाग्रत होकर अन्तर में दृष्टि करे, इतनी ही देर है; जिसमें दृष्टि करने से निहाल हो जाये, ऐसा यह स्वभाव है। 'मैं परिपूर्ण हूँ, इत्यादि रागरूप विकल्प भी उसमें नहीं है, किन्तु उपदेश में समझाया कैसे जाये? उपदेश में उसका कथन करते तो स्थूलता हो जाती है, इसलिये वास्तव में वह उपदेश का विषय नहीं है किन्तु अन्तर्दृष्टि और अन्तर-अनुभव का विषय है। उपदेश तो निमित्तमात्र है, स्वयं अन्तर्दृष्टि करके समझे, तभी समझ में आये-ऐसा अचिंत्य स्वभाव है। अन्तर में 'मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ, राग या निमित्त मैं नहीं हूँ, ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सर्वस्व है'—ऐसा लक्ष हुए बिना निश्चय-व्यवहार की या उपादान-निमित्त की अनादिकालीन भूल दूर नहीं होती, और वह भूल दूर हुए बिना अन्य चाहे जितने उपाय करे तो भी कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये जिन्हें आत्मा का कल्याण करना हो—धर्मी होना हो, उन्हें यह बात बराबर समझकर निर्णय करने योग्य है।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

धर्म का निमित्त

अज्ञानी को तो अपने में धर्मभाव ही प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये उसको तो कोई धर्म का निमित्त ही नहीं है; क्योंकि कार्य हुए बिना निमित्त किसका? अज्ञानी को अपने में धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ है, इसलिये उसके धर्म के निमित्तों का भी निषेध वर्तता है।

ज्ञानी को अन्तर-स्वभाव के भान द्वारा अपने भाव में धर्म प्रगट हुआ है, इसलिये उसी को धर्म के निमित्त होते हैं; किन्तु उसकी दृष्टि में निमित्तों की रुचि का-राग का निषेध और स्वभाव का आदर वर्तता है।

—इस प्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है—ऐसा जो मानते हैं। उनके तो धर्म के निमित्त ही नहीं होते, और जिनके धर्म के निमित्त होते हैं—ऐसे ज्ञानी, निमित्त के कारण धर्म नहीं मानते।

मनुष्य का कर्तव्य

कई लोग पूछते हैं कि मनुष्य का कर्तव्य है ?—मानव धर्म किसे कहते हैं ? उसके उत्तर में गुरुदेव कहते हैं कि भाई! सब से पहले तो ''मैं मनुष्य हूँ''—ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है! मनुष्यपना तो संयोगी पर्याय है, जीव-पुद्गल के संयोगरूप असमानजातीयपर्याय है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। मनुष्य पर्याय मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा समझना, वह आत्मा का प्रथम कर्तव्य है, और वही प्रथम धर्म है। मनुष्यभव प्राप्त करके अगर कुछ करने जैसा हो तो यही है—इसके सिवा ''मैं मनुष्य ही हूँ''—ऐसा मानकर जो भी क्रियाकलाप किया जाता है, वह सब व्यवहारमूढ़ अज्ञानी जीवों का व्यवहार है।

मैं तो देह से भिन्न केवल चैतन्यमूर्ति हूँ—इसप्रकार ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा का भान करने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूपी जो वीतरागी पर्याय प्रगट हो, वह ''आत्मव्यवहार'' है, वही धर्मी जीवों का व्यवहार है। ''ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ''—ऐसा न मानकर, ''मनुष्य पर्याय ही मैं हूँ, मनुष्य देह ही मैं हूँ, शरीर की क्रियायें ''मेरी हैं''—ऐसा मानकर पर्यायबुद्धि में लीन हुए मूढ़ जीव परसमय हैं, वे जैन नहीं हैं। ''मानवधर्म'' के नाम से अज्ञानी लोग शरीर के साथ की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व की ही पुष्टि करते हैं। ज्ञानी तो ऐसा कहते हैं कि हे भाई! मनुष्य पर्याय में आत्मा का भेदज्ञान करना, यानी जो मनुष्यपर्याय है, सो मैं नहीं हूँ, किन्तु देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ—ऐसा भान करना, वह तेरा प्रथम कर्तव्य है और वही प्रथम धर्म है।

❀ ❀ ❀

इस सम्बन्ध में श्री प्रवचनसार की ९४ वीं गाथा में स्वसमय और परसमय का वर्णन करते हुए निम्नानुसार कहा है कि:—

— परसमय यानी मिथ्यादृष्टि जीव कैसा होता है, उसका वर्णन

''जो जीव-पुद्गलात्क असमानजातीय द्रव्यपर्याय का—जो कि सकल अविद्याओं का एक मूल है उसका—आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना करने के लिये नपुंसक होने से उसी में बल धारण करते हैं, (—अर्थात् वे असमानजातीय द्रव्यपर्याय के प्रति ही बल

धारण करनेवाले हैं) वे—जिनके निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है—''मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है''—इसप्रकार अहंकार-ममकार द्वारा ठगाते हुए अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार से च्युत होकर, जिसमें समस्त कियाकलाप को छाती से लगाकर भेंटा जाता है, ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके रागी और द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूपी कर्म के साथ संगतपने के कारण वास्तव में परसमय होते हैं।''

स्वसमय जीव कैसा है—उसका वर्णन

''जो असंकीर्ण (यानी पर से भिन्न) द्रव्य-गुण-पर्यायों द्वारा सुस्थित ऐसे भगवान आत्मा के स्वभाव का—जो कि सकल विद्याओं का एक मूल है उसका—आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना में समर्थ होने के कारण पर्यायमात्र के प्रति का बल दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं, वे—जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टि द्वारा समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण किए हैं, ऐसे मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके, अनेक कक्षों में संचारित रत्नदीप की भाँति एकरूप ही आत्मा को उपलब्ध करते हुए, अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रियाकलाप को भेंटा जाता है, ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय न करते हुए राग-द्वेष के उन्मेष रुक गये हैं; इसलिये परम उदासीनता का अवलंबन लेते हुए, समस्त परद्रव्य की संगति दूर की है; इसलिये मात्र स्वद्रव्य के साथ संगतपना होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं।''

यहाँ ऐसा कहा है कि—''मैं मनुष्य हूँ, शरीरादि की समस्त क्रियायें मैं करता हूँ, स्त्री-पुत्र-धनादिक के ग्रहण-त्याग का मैं स्वामी हूँ''—ऐसा मानना, वह ''मनुष्य व्यवहार'' है, और जो जीव ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके प्रवर्तमान होते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

''मात्र अचलितचेतना ही मैं हूँ, देहादिक मैं नहीं हूँ''—इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान करके आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित होना, वह ''आत्मव्यवहार'' है; और धर्मी जीव ऐसे आत्मव्यवहार को अंगीकार करके प्रवर्तमान होते हैं।

जो मनुष्यादि पर्याय में लीन हैं, वे एकान्तदृष्टिवाले हैं; वे लोग भिन्न चैतन्य को भूलकर मनुष्यव्यवहार का आश्रय करते हैं, इसलिये रागी-द्वेषी होते हैं और परद्रव्य के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं; इसलिये वे परसमय हैं—मिथ्यादृष्टि हैं।

जो देह से भिन्न चैतन्य को जानकर भगवान आत्मस्वभाव में ही स्थित हैं, वे अनेकान्तदृष्टि है; वे मनुष्यव्यवहार का आश्रय न करके आत्मस्वभाव का आश्रय करते हैं; इसलिये रागी-द्वेष नहीं होते, किन्तु परम उदासीन रहते हैं और परद्रव्य के साथ सम्बन्ध न करके मात्र स्वद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध करते हैं; इसलिये वे स्वसमय हैं।

स्व-पर का भेदज्ञान करके स्वसमयरूप परिणमित होना ही प्रत्येक जीव का कर्तव्य है।

(—प्रवचन से)

भगवान का आदर

आत्मा में त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक विकार—यह दोनों वर्तमान में एक साथ वर्त रहे हैं।

अहो! वर्तमान में वर्तनेवाला भगवान मैं हूँ—इसप्रकार स्वभाव का आदर करना और रागादिक का आदर छूट जाना, वह अपूर्व आत्मज्ञान है। वर्तमान वर्तनेवाले भगवान का आदर छोड़कर राग का और पर का आदर करता है, वह अनादिकालीन अज्ञान है।

हे जीव! अपने त्रिकाली स्वभाव की परम महत्ता जानकर उसका आदर कर।

मोक्ष का मूल

ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि मैं पर से पृथक् हूँ, मेरे गुणदोष भी पर से भिन्न हैं; रागादि दोष या ज्ञानादि गुण मुझे पर के करण नहीं होते; रागादि दोष मेरी पर्याय का अपराध है, और ज्ञानादि गुण तो मेरा स्वभाव है।—ऐसा जानने से ज्ञानी को पर के साथ एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष होते ही नहीं और न अपने गुण स्वभाव की प्रतीति कभी दूर होती है; इसलिये अनन्त संसार के परिभ्रमण का मूल उसके छिद गया है और मोक्ष का मूलकारण—ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो गया है।

प्रश्नोत्तर

परिणाम और उसका कर्ता

(१) **प्रश्नः —** जड़ के परिणाम होता है ?

उत्तरः — हाँ, जड़ के भी परिणाम होता है।

(२) **प्रश्नः —** जड़ में ज्ञान तो नहीं है, तब फिर उसके परिणाम कैसे होता है ?

उत्तरः — जडवस्तु में ज्ञान-दर्शनरूप या राग-द्वेषरूप परिणाम नहीं होते, परन्तु उसकी अवस्थारूप जड़ परिणाम होते हैं। जैसे कि—शरीर चले, खड़ा रहे, बोले, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की अवस्था बदलती रहे, इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं, वे सब जड़ के परिणाम हैं।

(३) **प्रश्नः —** उस जड़ के परिणाम का कर्ता कौन है ?

उत्तरः — उस जड़ के परिणाम का कर्ता जड़ स्वयं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है। शरीर में हलन-चलन हो, बोले, स्पर्शादि गुणों में परिवर्तन हो, वे सब जड़ के परिणाम हैं, और उनका कर्ता जड़ है, आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

(४) **प्रश्नः —** परिणाम का अर्थ क्या ?

उत्तरः — जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य परिणामी है; इसलिये प्रतिसमय उसमें नवीन पर्याय होती रहती है, उस पर्याय को "परिणाम" कहा जाता है। अथवा परिणमन, परिणति, पर्याय यानी कार्य।

(५) **प्रश्नः —** परिणाम कहाँ रहता है ?

उत्तरः — परिणाम और परिणामी अभेद है, इसलिये जिस द्रव्य के परिणाम हों, वे परिणाम उसी द्रव्य में रहते हैं; द्रव्य के परिणाम द्रव्य से पृथक् नहीं होते।

(६) **प्रश्नः —** कर्म किसके परिणाम हैं ?

उत्तरः — कर्म, जड़ पुद्गल के परिणाम हैं, उनका कर्ता जड़ है, जीव उनका कर्ता नहीं है।

(७) **प्रश्नः —** राग किसके परिणाम हैं ?

उत्तरः — राग, जीव के परिणाम हैं, उनका कर्ता जीव है, जड़कर्म उनका कर्ता नहीं है।

(८) **प्रश्नः —** एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणामों का कर्ता है ?

उत्तर:— नहीं; जड़ या चेतन सर्व द्रव्य अपने अपने परिणामों के कर्ता हैं; किसी द्रव्य के परिणामों का कर्ता दूसरा द्रव्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता है और उसके परिणाम, वह उसका कर्म है।

(९) प्रश्न:— दो द्रव्य एकत्रित होकर एक अवस्था करते हैं या नहीं ?

उत्तर:— नहीं; दो द्रव्य एकत्रित होकर एक अवस्था नहीं करते, क्योंकि एक परिणाम के कर्ता दो नहीं होते; इसलिये जीव और शरीर दोनों एकत्रित होकर बोलने की अवस्था करें—ऐसा नहीं होता; और कर्म तथा आत्मा एकत्रित होकर रागादि भाव करें—ऐसा नहीं होता। रागादि भावों का कर्ता जीव अकेला ही है, और बोलने-चालने की क्रिया के कर्ता, वे जड़ पदार्थ अकेले ही हैं। ऐसी प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता है।

(१०) प्रश्न:— यह समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर:— प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और वह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने कार्य को करता है,—ऐसा समझने से समस्त परद्रव्यों से आत्मा का भेदज्ञान होता है और पर की क्रिया के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि छूट जाती है, और मेरा कार्य कोई दूसरा करता है—ऐसी पराश्रयता की मिथ्याबुद्धि छूट जाती है;—ऐसा होने से स्वद्रव्य का आश्रय होता है और स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का लाभ होता है।

[श्री समयसार कलश ५१ से ५४ के प्रवचनों से]

सम्यक्त्वी की परिणति

मैं अखण्ड ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसके स्वभावसन्मुख उद्यम बना ही रहता है; वह स्वच्छन्दरूप से रागादि में प्रवर्तन नहीं करता। अभी अल्प विकार होता अवश्य है, किंतु रुचि की सन्मुखता तो ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ही रहती है; विकार की रुचि नहीं है—भावना नहीं है, इसलिये स्वच्छन्दरूप से विकार होता ही नहीं। जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है—ऐसे सम्यक्त्वी के तो ऐसी परिणति सदैव वर्तती ही रहती है।

—किन्तु जिसके अभी अंतर-स्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं है, विकार की रुचि दूर नहीं हुई है और अपने को सम्यक्त्वी मानकर स्वच्छन्दरूप से रागादि में वर्तता है—ऐसे निश्चयाभासी जीव को ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई—अपने परिणाम का तू विवेक कर।

❀ ❀ ❀

''ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जग मांहि सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवै नांही॥''

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।